प्रफुल्ल कोलख्यान

प्रेमचंद जैसे विश्वदृष्टि संपन्न महान साहित्यकार के साहित्यक-सांस्कृतिक संघर्ष और स्वप्न के आशय को समतामूलक विश्व-मानव-समाज की आकांक्षा के परिप्रेक्ष्य में ही बेहतर ढंग से समझा एवं मनस्थ किया जा सकता है। साहित्यिक-सांस्कृतिक संघर्ष समाज के अंदर ही होते हैं, इसलिए उस समाज को समझने का संवेदनात्मक साक्ष्य एवं आधार भी प्रदान करते हैं। ध्यातव्य है कि आधुनिक समय में राजनीतिक राष्ट्र के रूप में भारत और इस भारत के विभिन्न समाजों के साथ ही भाषाई समाज के रूप में हिंदी समाज के तात्त्विक गठन का प्रारंभ ब्रिटिश उपनिवेश से मुक्ति-संघर्ष के दौरान हुआ। मुक्ति-संघर्ष के दौरान सक्रिय मुख्य प्रवृत्तियों का असर भारतीय राष्ट्र और हिंदी समाज दोनों के चरित्र में अंतर्भुक्त होता गया। जाहिर है भारतीय राष्ट्र, मुक्ति-संघर्ष और हिंदी समाज के बनाव और मनोभाव को इस त्रैत-तनाव के पारस्परिक परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। इस मुक्ति-संघर्ष के उत्तप्त समय में ही प्रेमचंद का साहित्य सृजित हुआ। इस त्रैत को समझने में प्रेमचंद का साहित्य और प्रेमचंद के साहित्य को समझने में यह त्रैत प्रमुख आधार उपकरण हो सकता है।

मुक्ति-संघर्ष के संदर्भ में इतिहासकार सुमित सरकार का कहना है, 'वस्तुतत: भारत में राष्ट्रवाद और हिंदू-मुसलमान संप्रदायवाद अनिवार्यत: आधुनिक संवृतियाँ हैं।' यह भी कि 'इस काल का अंतिम महत्त्वपूर्ण लक्षण था--- भाषाई आधार पर आंचलिक भावनाओं का विकास। बंगाल ने 1905 में आंचलिक भावनाओं की शक्ति का सर्वप्रथम स्पष्ट प्रमाण दिया

था, और 1917 में अपने भवानीपुर के भाषण में सी. आर. दास ने वही तार फिर झंकृत करने का प्रयास किया: बंगाली हिंदू, मुसलमान या इसाई हो सकता है किंतु वह रहेगा बंगाली ही।' ध्यान में रखना जरूरी है कि 1905 बंग-भंग का साल है। इतिहासकार सुमित सरकार एक जगह लिखते हैं, 'यहाँ तक कि प्रेमचंद भी 1915 तक मुख्यत: उर्दू में ही लिखते रहे जब तक कि उन्हें प्रकाशक मिलने कठिन न हो गये। आर्यसमाजियों एवं रूढ़िवादी हिंदुओं द्वारा उठाए गये देवनागरी लिपिवाली हिंदी के आंदोलन की एक विशिष्ट लोकप्रिय अपील थी, क्योंकि फारसी-बहुल उर्दू अभिजात वर्ग भाषा रही थी। किंतु संस्कृतनिष्ठ हिंदी, जिसका अधिकाधिक प्रचार किया जा रहा था, और कुछ लोगों ने (ये कुछ लोग कौन थे? इसका उल्लेख श्री सरकार नहीं करते हैं!) जिसे राष्ट्र भाषा का दर्जा दिये जाने की भी माँग की, इस क्षेत्र की विभिन्न लोकप्रिय बोलियों (पंजाबी, हरियाणवी, पहाड़ी, राजस्थानी, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मागधी इत्यादि) से वस्तुत: बहुत भिन्न थी। सबसे भयानक बात तो यह थी कि भाषा और लिपि के मतभेदों को धीरे-धीरे धार्मिक मतभेदों से जोड़ा जाने लगा था जो संप्रदायवाद को जनमानस में कहीं और भी गहरे बिठा रहा था। इस प्रकार उत्तर और दक्षिण भारत में ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हो रही थीं जो आजतक स्वतंत्र भारत के लिए चिंता का कारण बनी हुई है।' दूसरी जगह लिखते हैं, 'उत्तर भारत के अधिकांश में साहित्य की भाषा उर्दू ही रही, जिसकी समृद्ध परंपरा का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व इस काल में मुहम्मद इकबाल द्वारा होता है। तथापि, हिंदू पुनरुत्थानवाद के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण हिंदी की अपेक्षा उर्दू की स्थिति धीरे-धीरे कमजोर होती जा रही थी। लोकप्रियता की दृष्टि से कुछ सीमा तक इसे एक उपलब्धि कहा जा सकता था (जो साहित्यिक हिंदी के अत्यंत संस्कृतिनिष्ठ और बनावटी होने के कारण सीमित थी) किंतु यह सांप्रदायिक एकता के लिए एक आघात था। प्रेमचंद ने भी अपना लेखन कर्म उर्दू में ही आरंभ किया था, किंतु 1915 के बाद वे हिंदी में लिखने लगे थे क्योंकि उर्दू में प्रकाशक मिलने कठिन हो गये थे।'

खुद प्रेमचंद कहते हैं, 'आप (हजरत नियाज) के खयाल में कोई हिंदू उर्दू लिख ही नहीं सकता चाहे वह सारी उम्र उसकी साधना करता रहे और मुसलमान जन्म से ही उर्दू लिखना जानता है यानी उर्दू लिखने की योग्यता वह माँ के पेट से लेकर आता है! ... मुसलमानों पर यह आम एतराज है कि उन्होंने हिंदू शायरों और लिखनेवालों का कभी सम्मान नहीं किया।... अगर इस बात की छान-बीन का कोई सही तरीका हो कि कितने हिंदू उर्दू बोलते हैं और कितने मुसलमान तो मेरे खयाल में दोनों की तादाद में बहुत ज्यादा फ़र्क़ न नज़र आयेगा। यह दूसरी बात है कि हजरत नियाज़ हिंदुओं की उर्दू को उर्दू ही न कहें। इसी तरह हिंदू भी मुसलमानों की उर्दू को उर्दू न समझें तो उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता है। अगर मुसलमान उर्दू में अरबी और फारसी लफ़्ज ठूँस-ठूँस कर उसे इसलामी रंग देना चाहता है तो हिंदू भी उसमें हिंदी और भाषा के शब्द दाखिल

करके उसे हिंदू रंग देने का इच्छुक हो सकता है। उर्दू न मुसलमान की बपौती है न हिंदू की।' -जमाना, दिसंबर 1930

प्रकार 'राष्ट्रवाद' के साथ ही, 'भाषाई आधार पर आंचलिक भावनाओं का विकास' और 'भाषाई आधार पर संप्रदायवाद का विकास' भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के महत्त्वपूर्ण तत्त्व थे। आजादी के बाद भाषा के सवाल को ठंढे बस्ते में डाल दिया गया। जबकि भाषा के सवाल का सूत्र 'आंचलिक भावनाओं', 'राष्ट्रवाद' और हिंदू-मुसलमान 'संप्रदायवाद' से सीधा जुड़ता था। जिस मुहम्मद इकबाल को सुमित सरकार उत्तर भारत की समृद्ध साहित्यिक परंपरा का सर्वोत्तम प्रतिनिधि बताते हैं और यह भी लिखते हैं कि 1930 में लीग का सभापतित्व करते हुए 'पश्चिमोत्तर भारतीय मुस्लिम राज्य' की आवश्यकता को रेखांकित करनेवाले महान उर्दू कवि और देशभक्त का स्वप्न देश को विभाजित करने का नहीं था, बल्कि पश्चिमोत्तर भारत के मुस्लिम बहुल क्षेत्रों का पुनर्गठन करके उसे एक ढीले-ढाले भारतीय संघ में एक स्वायत्त इकाई बनाना था। सुमित सरकार की इस मान्यता को मान लिये जाने पर भी यह सवाल तो बनता ही है कि क्या भारतीय संघ में उस स्वायत्त इकाई का सपना एक 'मुस्लिम राज्य' के गठन का ही सपना नहीं था, तो क्या था? प्रेमचंद लिखते हैं, 'पाकिस्तान की नई उपज: डॉ. सर मुहम्मद इकबाल पच्छिम में मुसलिम राज्य का स्वप्न देख रहे हैं। अब उनके भी उस्ताद निकल आये हैं वह पाकिस्तान के नाम से एक मुसलिम साम्राज्य का स्वप्न देख रहे हैं।' (14/5/1933) डॉ. इकबाल और नेहरू जी के संबंधित बहस में हस्तक्षेप करते हुए प्रेमचंद 'संस्कृति क्या है' पर विचार करते हैं और कहते हैं, 'प्रत्येक प्रांत में हिंदू और मुसलिम जनता की भाषा एक है, पहनावा एक है, शादी-ब्याह की परिपाटी भी एक है। अवध या बुंदेलखंड के किसी मुसलिम या हिंदू किसान में ऐसा कोई अंतर न मिलेगा, जो एक को दूसरे से अलग कर सके।' (18/12/1931) हिंदू-मुस्लिम एकता पर विचार करते हुए 1931 में ही प्रेमचंद ने लिखा था, 'उर्दू -हिंदी का झगड़ा तो थोड़े-से शिक्षितों तक ही महदूद है। अन्य प्रांतों के मुसलमान उर्दू के भक्त नहीं और न हिंदी के विरोधी हैं। वे जिस प्रांत में रहते हैं, उसी की भाषा का व्यवहार करते हैं।.. जरूरत यह है कि हम गलत इतिहास को निकाल डालें...'

देवनागरी लिपिवाली हिंदी को सुमित सरकार आर्यसमाजियों एवं रूढ़िवादी हिंदुओं से जोड़ते हैं उस हिंदी के बारे में चतुरसेन शास्त्री की पुस्तक 'इसलाम का विष-वृक्ष' पर टिप्पणी करते हुए, प्रेमचंद लिखते

हैं, 'श्री चतुरसेन जी हमारे मित्र हैं। वह विद्वान हैं, मनस्वी हैं, उदार हैं, हम उनसे प्रार्थना करते हैं कि ऐसी जटिल और द्रोहभरी रचनाएँ लिखकर, अपनी प्रतिभा को और हिंदी भाषा को कलंकित न करें...' 24/7/1933। लिपि के संदर्भ में लिखते हैं, 'जिस दिन लिपि की समस्या हल हो जायेगी उसी दिन वैमनस्य की जड़ कट जायेगी। फिर भी अभी एकतरफी मुआमला है। हिंदू तो उर्दू पढ़ते हैं, पर मुसलमान हिंदी नहीं पढ़ते। यों तो लड़ाई भाई-भाई और बाप-बेटे में भी होती है पर सभी बाप एक ओर और सभी बेटे दूसरी ओर खड़े होकर लट्ठम लट्ठ नहीं करते।' (अप्रैल,1931)

हिंदी समाज में प्रेमचंद के होने के अर्थ को समझना असल में हिंदी समाज को ही समझने का एक प्रभावी उपक्रम है। जिस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद साहित्य में दाखिल हुए थे उसे ध्यान में रखा जाये तो कुछ बातें तत्काल ध्यान में आती हैं। उपलब्ध भारतीय राष्ट्र के गठन की प्रक्रिया का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य विश्व स्तर पर फासीवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध किये जानेवाले संघर्षों से बनता है। यह संघर्ष बाहरी और भीतरी दोनों ही तत्त्वों से रहा है। कुछ समय की शीत-निष्क्रियता और अंत:सक्रियता के बाद आज एक बार फिर नव-फासीवाद और नव-उपनिवेशवाद के बाहरी और भीतरी तत्त्व अपने ऐतिहासिक अनुभवों, वित्तीय-पूँजी की शक्ति और तकनीक की गति से संपन्न होकर प्रकट हो रहा है। भूमंडलीकरण, बाजारवाद और इनके सहमेल में विकसित उत्तर-आधुनिकता के प्रभाव से अवसन्न समय में भारत फिर उन्हीं समस्याओं की जकड़न में फँसता जा रहा है जिन समस्याओं की जकड़न में फँसकर हमारा मुक्ति-संघर्ष विकलांग हो गया। हिंदी प्रदेश के बाहर इस या उस रूप में क्षेत्रीयतावाद सुगबुगा रहा है तो हिंदी प्रदेश इस या उस बहाने सांप्रदायिकता से लहुलुहान हो रहा है। सांप्रदायिकतावाद के कोलाहल के कारण क्षेत्रीयतावाद के पसरते हुए स्वर को एक प्रकार का आवरण भी हासिल हो जा रहा है। दुखद है कि आज भी कुछ लोग हिंदी को हिंदुत्व से ही जोड़कर देखने और दिखाने के उद्यम में लगे हैं। हिंदी समाज बाहरी भीतरी तत्त्वों की दुरभिसंधियों में फँस हुआ है। इस दुरभिसंधि से बाहर निकलने के लिए इसे कठिन मानसिक चर्या से गुजरना होगा। क्या है यह दुरभिसंधि और कैसी है यह कठिन मानसिक चर्या इसे समझने के लिए प्रेमचंद के पास जाना होगा। हो सकता है सारे सवालों के जवाब प्रेमचंद के पास न हों लेकिन जवाब तलाशने की प्रक्रिया में प्रेमचंद के पास होने का एहसास हमें ढाढस जरूर बँधायेगा।

में, आज पूरा भारतीय राष्ट्र आत्ममंथन की तीव्र प्रक्रिया के सम्मुख खड़ा है। इतिहास के तहखानों से हथियारों को निकालकर दुरुस्त किया जा रहा है। प्रेमचंद का समय भारत में राष्ट्रबोध के नये बनाव का समय था। समाज में चली आ रही रीति-रिवाजों और लोकाचार की परंपरित मान्यताओं को नये सिरे से परखने और

माँजने की आवश्यकता पर बल दिया जा रहा था। राजनीतिक विकास और सांस्कृतिक विकास में एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह भी है कि राजनीतिक विकास की दिशा बाहर से भीतर की ओर अंतरित होती है जब कि सांस्कृतिक विकास की दिशा भीतर से बाहर की ओर उन्मुख होती है। भीतर और बाहर का यह द्वंद्व मानव मन में हमेशा सक्रिय रहा करता है। भीतर का उछाल बाहर को बदलता है तो बाहर का भी दबाव भीतर को बदल देता है। उस समय, बाहर और भीतर के द्वंद्व में न सिर्फ राजनीतिक-आर्थिक उपनिवेश से मुक्ति की छटपटाहट का प्रभाव काम कर रहा था बल्कि सांस्कृतिक-बौद्धिक उपनिवेश से भी मुक्ति की छटपटाहट का प्रभाव भी काम कर रहा था। राजनीतिक-आर्थिक उपनिवेश से मुक्ति की छटपटाहट से देश में जनतंत्र के औपचारिक गठन का मार्ग खुल रहा था। सांस्कृतिक-बौद्धिक उपनिवेश से मुक्ति की छटपटाहट से देश में राष्ट्रबोध के नये सामाजिक बनाव का आधार उभर रहा था। सांस्कृतिक-बौद्धिक उपनिवेश से मुक्ति की छटपटाहट में आंतरिक उपनिवेशी प्रवृत्तियों को समझने और उससे संघर्ष करने की चेतना भी सक्रिय थी। राजनीतिक आधार के बनाव में तत्कालीन स्थितियों में सामाजिक जीवन को अधिक प्रीतिकर बनाने के लिए लिये जानेवाले निर्णयों का योगदान होता है। सांस्कृतिक आधार के बनाव में परंपरा के प्रवाह का अपना प्रभाव होता है। राजनीति व्यवहार का आधार बनाती है। संस्कृति चरित्र का आधार बनाती है। राष्ट्रबोध के राजनीतिक आधार के साथ-साथ सांस्कृतिक आधार भी बन रहे थे। द्विराष्ट्रीयता के विचार के साथ ही और किन्हीं अर्थों में उससे सहबद्ध भी, एक दूसरा विचार उप-राष्ट्रीयता एवं स्थानापन्न राष्ट्रीयता का विचार भी पूंजीभूत हो रहा था। द्विराष्ट्रीयता का विचार तो तभी इतनी तेजी से और इतना अधिक पूँजीभूत हो गया कि उसके विस्फोट से अंतत: भारत विभाजन की त्रासद घटना ने जन्म लिया। इस त्रासद घटना के कारण उप-राष्ट्रीयता एवं स्थानापन्न राष्ट्रीयता का विचार-पूँज तात्कलिक रूप से अदृश्य और अप्रभावी तो हो गया, लेकिन दुखद है कि विलोपित कभी नहीं हुआ। अब यह पुंज बड़ा होकर मगरमच्छ के थुथून की तरह बीच-बीच में प्रकट हो रहा है।

के सांस्कृतिक आधार पर ही क्षेत्रीयतावाद विकसित होता है। इसलिए सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और विघटनकारी क्षेत्रीयतावाद में घनिष्ठ संबंध होता है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का संबंध संप्रदायवाद से भी होता है। इसलिए क्षेत्रीयतावाद और संप्रदायवाद दोनों से ही एक साथ निपटना होगा। इस संघर्ष में ध्यान यह रखना ही होगा कि क्षेत्रीयतावाद और संप्रदायवाद दोनों सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की कोख में ही पलते हैं। इस समय एक राष्ट्र के रूप में भारत समकालीन राजनीति के फासीवादी रुझान और सामाजिक पिछड़ेपन की गिरफ्त में फँसा हुआ है। इस दु:स्थिति के लिए कभी प्रत्यक्ष रूप से तो कभी अप्रत्यक्ष रूप से हिंदी समाज को ही दोषी ठहराया जाता है। हिंदी समाज के

प्रति इस तरह की धारणा नई नहीं है। दुखद यह है कि हिंदी समाज अपनी इस प्रचारित छवि को समझने और बदलने की गंभीर कोशिश भी नहीं करता है। इस कोशिश के लिए हिंदी समाज में अकुंठ विश्व-दृष्टि के साथ निर्मम आत्म-दृष्टि के भी विकास की जरूरत है। इस जरूरत को पूरा करने में जिन साहित्यकारों के संवेदनात्मक प्रयास से मदद मिल सकती है उनमें प्रेमचंद का नाम अप्रतिम है। हमें हिंदी समाज में प्रेमचंद की सक्रिय संवेदनात्मक उपस्थिति महसूस करनी चाहिए। पुनरुक्ति के दोष के जोखिम पर भी, यह कहना जरूरी है कि हो सकता है, सारे सवालों के जवाब प्रेमचंद के पास न हों लेकिन जवाब तलाशने की प्रक्रिया में प्रेमचंद के पास होने का एहसास हमें ढाढस जरूर बँधायेगा।